IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

"ब्रजमण्डल की वैष्णव सम्प्रदाय में परम्परागत रूप से चली आ रही धार्मिक गायन शैलियों में प्रयुक्त अवनद्ध वाद्य : एक अध्ययन"

दर्शिका तिवारी (Darshika Tiwari)
शोध छात्रा (संगीत विभाग)
दयालबाग शिक्षण संस्थान,
दयालबाग, आगरा–281005
निर्देशक : प्रो0 रश्मि श्रीवास्तव (Prof. Rashmi Shrivastava)

भारत धर्म–प्रधान देश है। भारतीय विचारधारा सदा से आदर्श की भावभूमि पर प्रवाहित होती रही है तथा उसका प्रयोजन लोक–कल्याण रहा है। इसके कण–कण में राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर की आत्मा समाई हुई है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह के पंच महाव्रतों को इस देश के निवासी युगों से आत्मसात् करते आ रहे हैं।

"जिन सिद्धान्तों के अनुसार हम अपना दैनिक जीवन व्यतीत करते हैं तथा जिनके द्वारा हमारे सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना होती है, वही धर्म है।"

संगीत का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इसका आरम्भ वैदिक काल से माना जाता है। जितनी प्राचीन हमारे देश की सभ्यता और संस्कृति है, उतना ही विस्तृत एवं विशाल यहाँ के संगीत का इतिहास है। जितनी गौरवमयी यहाँ की सभ्यता और संस्कृति है, उतना ही महान यहाँ का संगीत भी है। अतः यहाँ के संगीत में लौकिक तत्वों के साथ–साथ धार्मिक आस्थाएं एवं विश्वास भी प्रकट होते हैं।

भारतीय संगीत में ब्रजभूमि अपना एक अलग ही महत्व रखती है। ब्रज क्षेत्र ने भारत की विराट संस्कृति को उन्नतिशील व समृद्धशाली बनाने में अपना विशेष योगदान दिया है। इसीलिए ब्रज की पवित्र भूमि अपनी धार्मिक, सांस्कृतिक, कलात्मक एवं सांगीतिक अभिव्यक्ति के लिए सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध रही है। भारत में विद्या का ऐसा कौन सा क्षेत्र है, जो ब्रज वैभव से चमत्कृत न हो। ब्रज के रूप रस की, दर्शन और शास्त्र की, साहित्य और कला वैभव इत्यादि की कहानी इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी हुई है।ब्रज की संस्कृति ने अखिल भारतीय संस्कृति के गौरव की वृद्धि करते हुए उसको पूर्णता प्रदान की व समस्त भारत की विराट संस्कृति की उन्नति व समृद्धि में अपना विशेष योगदान दिया। भारत के सार्वभौम स्वरूप के दर्शन यहाँ होते हैं। ये वह भूमि है जहाँ गिरिराज शाभायमान हैं। ब्रज भूमि का महत्व बौद्धिक न होकर भावनात्मक प्रेरणा स्पद तथा रचनात्मक है। साहित्य और कलाओं के विकास में यह अग्रणी है।

ब्रज शब्द संस्कृत धातु ब्रज से निर्मित है महर्षि पाणिनी के अनुसार इसका अर्थ है गतिशीलता।
अमर सिंह ने अपने ग्रन्थ अमरकोश मं इसका अर्थ समूह या झुण्ड बतलाया है।

वर्तमान काल में कुछ लोग गोकुल को, कुछ वृन्दावन को तथा कुछ लोगों की मान्यता है कि जहाँ–जहाँ गोवर्धन दिखई देता है उसी क्षेत्र को ब्रज कहते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार ब्रज चौरासी कोस में फैला हुआ है।

ब्रज चौरासी कोस में, चार गाम निज दाम।
वृन्दावन अरू मधुपुरी, बरसानौ नंदगाँव।।

किन्तु भौगोलिक रीति–रिवाज व बोली के आधार पर यदि क्षेत्र का निर्धारण किया जाये तो जहाँ–जहाँ ब्रज भाषा बोली जाती है अर्थात् अलीगढ़, आगरा, एटा, इटावा, मैनपुरी आदि से लेकर धौलपुर, ग्वालियर, बुन्देलखण्ड, झाँसी तक तथा ढीग, भरतपुर, बयाना, करौली, अलवर आदि बजमण्डल के अन्तर्गत आते हैं। व इन जिलों में ब्रजभाषा और ब्रजभावना पूरी तरह विद्यमान है।

भारतीय संगीत का मध्यकालीन इतिहास अपने भक्ति आन्दोलनों के लिए प्रसिद्ध है। भक्ति आन्दोलन का प्रभाव भारतीय संगीत पर भी पड़ा। संगीतोपासक वर्ग के संगीतज्ञों ने धार्मिक संगीत का प्रचार किया। परिणामस्वरूप विभिन्न धर्मों में भक्ति परम्परा से निर्मित संगीत का प्रयोग किया जाने लगा। हिन्दू धर्म में तो यह वैदिक काल से चला आ रहा है।

मध्यकाल में हिन्दू धर्म में तीन परम्परायें विद्यमान थीं

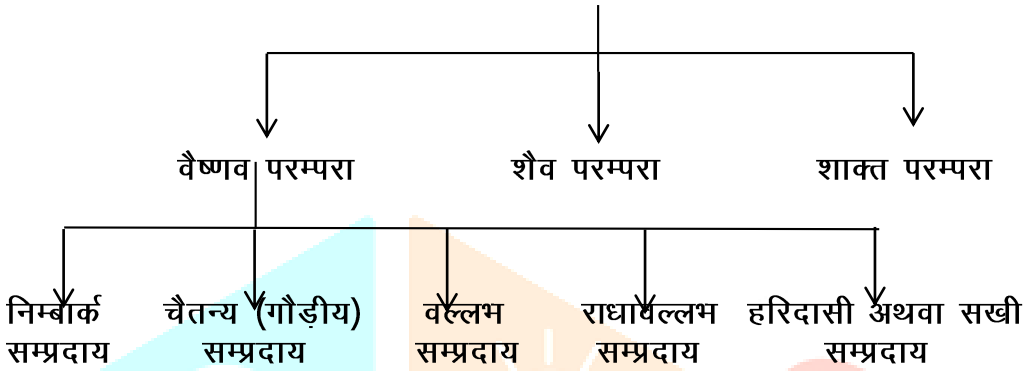

यह पाँचों ही सम्प्रदाय मथुरा–वृन्दावन या ब्रजमण्डल की धार्मिक सम्प्रदायें कहलाती हैं इसीलिए इनकी गायन शैलियों को भी धार्मिक गायन शैली कहा जाता है।

1. निम्बार्क सम्प्रदाय – इस सम्प्रदाय का प्रसिद्ध मन्दिर श्री जी की बड़ी कुंज, वृन्दावन में है। यहाँ पर राधाष्टमी उत्सव पर विशेष रूप से समाज गान होता है। इस सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण मन्दिर चयन बिहारी कुँज, ज्ञान गुदडी मोहल्ला वृन्दावन में है।

"इस सम्प्रदाय को ब्रज के सभी धार्मिक सम्प्रदायों में प्राचीनतम माना जाता है। इसके प्रवर्तक जगदगुरू निम्बकाचार्य की परम्परा में संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक आचार्यों एवं कवियों की एक अच्छी संख्या दृष्टिगोचर होती है।" इस सम्प्रदाय के भक्तों का दृढ़ विश्वास है कि उनका कल्याण केवल राधाकृष्ण की केलि से सम्भव है। इस प्रकार रस की साधना से हृदय की शुद्धि परमावश्यक है।

निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्त संगीतज्ञों की वाणियों पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय इस सम्प्रदाय में भी ध्रुपद और धमार के गायन के द्वारा इष्ट प्रभू की सेवा होती थी। श्री हरिव्यास जी ने धमार गायन को एक होरी पद में ''धमारिन'' के रूप में दर्शाया ह–

''ढफहि बजावत गावति चाँचरि गारि धमारिन घूम परि''

2. चैतन्य (गौड़ीय) सम्प्रदाय – इस सम्प्रदाय का मुख्य मन्दिर वृन्दावन में राधारमण जी के मन्दिर के नाम से विख्यात है। मथुरा में भी कृष्ण गंगा में स्थित मन्दिर तथा रंगेश्वर जी के पा के मन्दिरों को गौड़ीय सम्प्रदाय का माना जाता है। गोवर्धन में चकलेश्वर पर भी इस सम्प्रदाय का एक मन्दिर है। गौड़ीय सम्प्रदाय राधा कृष्णोपासक सम्प्रदाय है। बंगाल में उत्पन्न होने पर भी चैतन्य–सम्प्रदाय का शास्त्रीय रूप, विधि–विधानों की व्याख्या तथा भक्ति शास्त्र के सिद्धान्तों का निर्णय बंगाल में न होकर वृन्दावन में विद्वान गोस्वामियों के द्वारा किया गया। इस सम्प्रदाय के अनुसार कृष्ण के तीन धाम हैं– वृन्दावन, द्वारिका और बैकुण्ठ। वृन्दावन माधुर्य प्रधान है इसीलिये तीनों धामों में वृन्दावन सर्वोत्तम है। इस सम्प्रदाय के अनुसार, भक्तजनों में अतिशय दीनता, नम्रता और सहिष्णुता आदि गुणों का विद्यमान होना आवश्यक है। चैतन्य को श्री कृष्ण का नाम–संकीर्तन और लीला गान अत्यन्त प्रिय था। भक्ति साधना की दृष्टि से "हरिनाम कीर्तन" प्रमुख माना गया है।

कीर्तन में एक से तीन तक मृदंग वादक संगत करते हैं। मुख्य वाद्य खोल और मंजीरा रहते हैं। कीर्तन प्रारम्भ करने से पूर्व सब गायको का पूजन चन्दन जल छिड़ककर किया जाता है। चैतन्य को श्री कृष्ण का नाम–संकीतन और लीला गान अत्यन्त प्रिय था और यही कृष्ण भक्ति का प्रथम और प्रमुख साधन माना गया है।

3. वल्लभ सम्प्रदाय – इस सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण मन्दिर जतीपुरा (मथुरा) में है। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी दूसरी यात्रा के समय ब्रजवासियों को यहाँ कृष्णाश्रय मंत्र दिया था और श्री नाथ जी के मन्दिर का निर्माण कराया। संवत् 1556 में उन्होंने अंबाला निवासी पूरनमल खत्री की इच्छापूर्ति के लिए श्रो नाथ जी के मन्दिर निर्माण की स्वीकृति देकर दिल्ली के शिल्पकार हीरामन मिस्त्री से मन्दिर का मानचित्र बनाने को कहा।

वैष्णव मन्दिरों में विशेष रूप से बल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरों में राग, भोग और श्रृंगार युक्त सेवा का एक नियामक व्यवहार शास्त्र ही है। जिसमें पारंगत हुए बिना मन्दिरों की पूजा व्यवस्था में प्रवेश नहीं मिलता। पुष्टिमार्गी सम्प्रदाय में ''राग'' शब्द कीर्तन या समाज का द्योतक है। वल्लभाचार्य जी ने भक्ति में मन का निराध अति आवश्यक माना है जो संगीत की सहायता से ही हो सकता है।

कीर्तन में गाये जाने वाले पद ध्रुपद–धमार शैली पर ही आधारित होते थे। तानसेन, अकबर आदि सब बल्लभ कुल के संगीतज्ञों के प्रशंसक थे। बल्लभ सम्प्रदायो भक्तों ने ध्रुपद गान में आराध्य भाव की प्रधानता रखने के उद्देश्य से उसमें किसी विशेष लय योजना पर ध्यान नहीं दिया। वार्ताओं में ध्रुवपद के साथ बजने वाले पखावज, मृदंग आदि वाद्यों का उल्लेख मिलता है।

4. राधावल्लभ सम्प्रदाय– इनके प्राचीन मन्दिर को श्री वन चन्द्र जी के शिष्य देवबन निवासी कायस्त सुन्दरलाल खजान्ची ने बनवाया था। उस मन्दिर का ध्वंस सं. 1726 में औरंगजेब ने कराया था उसके बाद नया मन्दिर सं. 1871 में बना जिसमें श्री राधा बल्लभ जी की प्रतिमा विराजमान है। राधावल्लभ सम्प्रदाय शुद्ध रसमार्गीय भक्ति सम्प्रदाय है। इसकी सेवा का मूलाधार प्रेम है। यही प्रेम तत्व अनन्त, अलाकिक नित्य नवीन होकर साधक के हृदय को आनन्द सागर में निमज्जित किए रहता है। इस प्रेम के रंग में स्नात होकर प्रेमी रसिक अपने इष्ट उपास्य की अराधना में लगा रहता है।

श्री राधाबल्लभ जी के श्री विग्रह में आचार्य हित हरिवंश जी ने श्री राधाकृष्ण के युगल स्वरूप की अनुभूति की है, परन्तु प्रकट स्वरूप में ''श्री राधा'' नाम की सर्वोपरिता स्वीकारी है क्योंकि श्री प्रियतम श्री प्रिया जू के प्रमाधीन हैं। इस सम्प्रदाय के संगीत में वाद्यों का भी महत्वपूर्ण स्थान है जो समाजगान का अनिवार्य अंग रहा है क्योंकि वाद्यों से ही गायक को स्वर तथा ताल का ज्ञान होता है। ''समाज'' में सारंगी, तानपुरा तथा वाद्यों में झांझ और पखावज से संगत की जाती है।

5. हरिदासी अथवा सखी सम्प्रदाय – वृन्दावन में विधिवन स्वामी हरिदास जी की साधना भूमि है। विरक्तों के अनुसार सं0 1562 में श्री हरिदास जी ने आसुधीर जी से यहीं दीक्षा ली तथा आजीवन यहीं रहे। यहीं संवत् 1567 में उनके उपास्य श्री बाँके बिहारी जी का प्राकट्य हुआ। यहीं तानसेन क साथ सम्राट अकबर ने आकर उनसे भेंट की। हरिदास सम्प्रदाय का विशेष मन्दिर बिहारी पुरा (वृन्दावन) में स्थित है। इसे श्री बाँके बिहारी जी का मन्दिर कहते हैं। ये वृन्दावन के सबसे अधिक लोकप्रिय ठाकुर हैं।

टट्टो स्थान स्वामी हरिदास जी की आजकल सबसे महत्वपूर्ण गद्दी है। इसे बाबा मौनीदास की टटिया या टट्टी भी कहते हैं। इस सम्प्रदाय की समाज गान परम्परा इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि इसने ही प्राचीन ध्रुवपद शैली को पुनः स्थापित किया। इस सम्प्रदाय के समाजगायक छबीले शरण जी से साक्षात्कार करने पर पता चला कि इस सम्प्रदाय की गायन पद्धति में आज भी रागों का स्वरूप प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित राग स्वरूपों पर आधारित है।

''उनकी टट्टीय स्थान वाली विरक्त शिष्य परम्परा की ध्रुवपद गायन शैली प्रचलित शास्त्रीय पद्धति से सर्वथा भिन्न है। एक–एक शब्द को ठाह से घुमाते हुए ''अरि एरि नवल नागरी'' के सम्पुट के साथ पखावज और तानपुरे पर मचलती हुई उनकी गायन शैली बड़ी भावयुक्त है।''

धार्मिक गायन शैलियों में प्रयुक्त अवनद्ध वाद्य

ब्रज क्षेत्र में अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग विशेष रूप से श्री कृष्ण जन्माष्टमी व होली के अवसर पर सुनाई देती है। पुष्टिमार्गीय मन्दिर इन वाद्यों के घनघोर शब्द से इतने गुंजायमान रहते हैं कि साधारण रूप वार्तालाप संभव नहीं होता। दैनिक व वार्षिक दोनों क्रमों में यह वाद्य अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। ब्रज क्षेत्र में अवनद्ध वाद्यों की गौरवशाली एवं समृद्ध परम्परा है। ब्रज क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के अवनद्ध वाद्य प्रचलित हैं जो निम्नवत् हैं–

मृदंग या पखावज वाद्य

मृदंग अवनद्ध वाद्यों में सबसे प्राचीन वाद्य है इसके वादन के प्रमाण प्राचीनकाल से ही मिलते हैं। अजन्ता की मूर्ति कला में भी इस वाद्य का चित्रण मिलता है। यह वाद्य विभिन्न कालों में, विभिन्न नाम एवं परिवर्तनों के पश्चात् वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर भारतीय संगीत में प्रतिष्ठित हुआ।

मृदंग की उत्पत्ति के सन्दर्भ में पुराणों में वर्णन है कि देवाधिदेव महादेव ने सत्य–युग में महाबली त्रिपुरासुर का घोर संग्राम में विनाश कर इन्द्र और अन्य देवताओं के सम्मुख आनन्द में नृत्य किया था। त्रिपुरासुर वध के बाद उसके रक्त से भीगकर जो कीचड़ उत्पन्न हुआ, उससे ब्रह्म ने सर्वप्रथम मृदंग का निर्माण किया। गायन व नृत्य की संगति के लिए तथा वृन्दवादन को प्रभावशाली बनाने के लिए यह वाद्य सबसे अधिक उपयुक्त माना गया है। यह द्विमुखी वाद्य मृदंग वर्तमान उत्तर भारत में मृदंग या पखावज तथा दक्षिण भारत में मृदंगम नाम से प्रचलित है। संस्कृत साहित्य में मृदंग या पखावज तथा दक्षिण भारत में मृदंगम् नाम से प्रचलित है। संस्कृत साहित्य में मृदंग का सर्वप्रथम उल्लेख रामायण तथा महाभारत में पाया जाता है।

मृदंग का मिट्टी का अंग अधिक स्थिर न रहने के कारण बाद में इसे काष्ठ को बनाया गया होगा और तब इसका नाम पक्षवाद्य रहा होगा और कालान्तर में भाषा विज्ञान के नियम के अनुसार क्रमशः इसका नाम पखावज हो गया होगा। यथा– पक्षवाद्य, पखाउज, पखावुज, पखावज। लेकिन आकृति में समानता होने के कारण मृदंग और पखावज शब्द आजकल समानार्थी रूप में प्रयुक्त होते हैं। पुष्टिमार्गीय कीर्तन साहित्य को देखने से भी यही प्रतीत होता है कि मृदंग व पखावज में कोई भेद नहीं माना गया है। दोनों ही शब्दों का प्रयोग समानार्थी रूप में हुआ है। यह वाद्य लगभग दो फीट लम्बा व दो मुख वाला होता है। इसके पेट की परिधि दो फीट से अधिक होती है। दोनों मुख चमड़े से मढ़े होते हैं तथा बद्धी से कसे रहते हैं।

पुष्टिमार्गीय या ब्रज के मन्दिरों में मूलतः यह वाद्य खड़े होकर बजाया जाता है। क्योंकि कीतनकार मूलरूप से खड़े होकर कीर्तन करते हैं। अतः पखावज को या तो गले में लटकाकर बजाते हैं या इसके लिए काठ का बना हुआ प्रसाधन (स्टैण्ड) प्रयोग करते हैं। जहाँ बैठकर इसका वादन करते हैं वहाँ इसके दायीं और या कहीं–कहीं पर दोनों ओर काठ की टिकटी का प्रयोग करते हैं जिससे पखावज हिलती–डुलती नहीं है। कहीं–कहीं पर इसे गोद में रखकर बजाते हैं। ब्रज संगीत में पखावज वाद्य शास्त्रीय गायन शैली ध्रुपद की संगत हेतु भी प्रयुक्त होता है।

प्राचीन एवं मध्यकालीन संगीत का प्रमुख तालवाद्य मृदंग था। मधकालीन ध्रुपद गायनशैली में मृदंग ही प्रधान वाद्य के रूप में था। किन्तु मृदंग के स्थान पर पखावज का प्रयोग मध्य युग से आरम्भ हुआ जो मुगल काल के बाद देखने को मिलता है। साधारणतः विद्वानों में यह मत प्रचलित है कि मिट्टी से निमित या मिट्टी के अंग वाला वाद्य मृदंग तथा लकड़ी के अंग वाला वाद्य पखावज है।

खोल – खोल का प्रयोग बंगाल के लोकगीतों, रवीन्द्र संगीत और चैतन्य महाप्रभू के अनुयायी कृष्णभक्त कीर्तन के साथ करते थे। इसका प्रयोग मणिपुर नृत्यों के साथ भी किया जाता है। बंगाल क अच्छे वादक इसका वादन गले में लटकाकर करते हैं। रवीन्द्र संगीत के लगभग सभी गीतों के साथ संगत हेतु खोल का ही प्रयोग किया जाता है। बंगाल में कीर्तनकारों के समूह में प्रायः ऐसे खोल वादक दिखाई देते हैं जो कीर्तनकारों के साथ घूम – घूमकर संगत करते हैं।

कुछ लोग इसे मृदंग भी कहते हैं। परन्तु यह उत्तर भारत के पखावज और दक्षिण के मृदंगम् से भिन्न होता है। इसका मुख्य शरीर एक होता है, जो ढोलक के समान अन्दर से खोखला होता है। इसे चिकनी मिट्टी से बनाकर अग्नि में पका लिया जाता है और इसे पतले चमड़े की पट्टी से लपेटकर इसका पूरा शरीर ढक दिया जाता है। पखावज के समान इसके भी दोनों मुखों पर पुड़ी बनी होती है। परन्तु दायें का मुख बहुत कम व्यास का और बायें का मुख अपेक्षाकृत बड़ा होता है।इसके दक्षिण मुख का व्यास साढ़े तीन इंच तथा वाम मुख का व्यास साढ़े सात इंच होता है। इसका मध्य भाग कुछ वाम पार्श्व की ओर हटकर ऊपर की ओर उठा होता है जो लगभग पचास इंच का वृत होता है। इसकी लम्बाई चौबीस से पच्चीस इंच तक होती है। इसके दक्षिण तथा वाम मुख में तबले की भाँति लेप लगाया जाता है। इस लेप का मसाला तबले तथा मृदंग में प्रयुक्त होने वाले लेप से भिन्न होता है। इसके दक्षिण मुख का नाद अत्यन्त ऊँचा होता है। वाम मुख का नाद तबले के बायें के समान गंभीर और मध्य सप्तक में होता है। जिसे वादन के समय पानी से भीगे कपड़े से वाम मुख के किनारों पर भिगोकर आवश्यकतानुसार उतार लिया जाता है।

अस्तु ब्रज की धार्मिक गायन शैलियों में ध्रुपद, धमार, पद गायन, कीर्तन इत्यादि गायन शैलियाँ आती हैं जिनमें मुख्यतः मृदंग अथवा पखावज तथा खोल वाद्यों का वादन किया जाता है किन्तु इन वाद्यों के अतिरिक्त भी ब्रज में मदिलरा, ढोल, ढोलक, नगाड़ा होली के दिनों में चंग, खंजरी, ढफ जैसे वाद्यों का भी प्रयोग किया जाता है किन्तु यह वाद्य ब्रज के धार्मिक नहीं अपितु ब्रज के लोक वाद्यों के अन्तर्गत आते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. शर्मा अंजू – ब्रज संस्कृति में संगीत
2. सिंह डॉ0 वन्दना – ब्रज की संगीत परम्परा
3. श्रीवास्तव गिरीश्चन्द्र – ताल कोश
4. सचदेव रेनू – धार्मिक परम्परायें एवं हिन्दुस्तानी संगीत
5. मिश्र डॉ0 लालमणि – भारतीय संगीत वाद्य